मराठा आंदोलन : आरक्षण या क़ायदे का रोज़गार ?

नीरज जैन

अनुवाद : नरेश गोस्वामी

महाराष्ट्र विधान सभा और विधान परिषद ने मराठा समुदाय को 'सामाजिक एवं शैक्षिक दृष्टि से पिछड़ा' घोषित करते हुए शैक्षिक संस्थाओं तथा लोक-सेवाओं में 16 प्रतिशत आरक्षण देने का विधेयक पारित कर दिया है। आरक्षण का यह लाभ मलाईदार परत से बाहर के लोगों को मिलेगा। ग़ौरतलब है कि आठ लाख या इससे अधिक की वार्षिक आय वाले लोगों को मलाईदार परत की श्रेणी से बाहर माना जाता है। विधेयक में कहा गया है कि इससे पिछड़ों तथा अन्य समुदायों के लिए पहले से निर्धारित कोटे पर कोई असर नहीं पड़ेगा। इस फ़ैसले के बाद राज्य में आरक्षण का प्रतिशत 52 प्रतिशत से बढ़कर 68 प्रतिशत हो गया है। यह विधेयक महाराष्ट्र राज्य पिछड़ा वर्ग आयोग की उस रिपोर्ट का नतीजा है जिसमें मराठा समुदाय की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों को देखते हुए उसे आरक्षण का लाभ प्रदान करने की अनुशंसा की गयी थी। फ़िलहाल, जहाँ मीडिया-मंचों पर बहस यह हो रही है कि मौजूदा विधेयक क़ानून के सामने टिक पाएगा या नहीं अथवा राज्य की राजनीति पर इसका क्या असर पड़ेगा, लेकिन यह मुद्दा बहस से ग़ायब है कि सरकारी नौकरियों और शिक्षा में लम्बे समय से आरक्षण की माँग करते आ रहे मराठा युवाओं को विधेयक की घोषणा के बाद वाक़ई क्या हासिल होगा। प्रस्तुत लेख विधेयक की औपचारिक घोषणा से पहले लिखा गया था। यह लेख इस मसले को अलग नज़रिये से देखता है, और इस क्रम में युवाओं से ऐसी माँग उठाने का आह्वान करता है कि सभी को क़ायदे का रोज़गार मिल सके।

महाराष्ट्र की एक प्रभुत्वशाली जाति और राज्य की आबादी में तक़रीबन 32–35 प्रतिशत की हिस्सेदारी रखने वाले (यह महज़ एक मोटा अनुमान भर है क्योंकि 1932 के बाद भारत में आबादी की जाति-आधारित गणना नहीं की गयी है) मराठों ने नौकरियों और शिक्षा संस्थानों में आरक्षण की माँग करने के लिए पिछले तीन साल के दौरान ज़बरदस्त आंदोलन किया है। 2016 और 2017 के दौरान मराठे 52 दफ़ा मौन यात्राएँ निकाल चुके हैं, लेकिन बाद में उनके आंदोलन का तेवर हिंसक हो गया। उन्होंने बसों पर हमला किया, रेलें रोकीं और राजमार्गों पर चक्का जाम किया। पिछले कुछ वर्षों के दौरान गुजरात में पटेल (पाटीदार), हरियाणा में जाट और राजस्थान में गूजर जैसी प्रभुत्वशाली जातियाँ इसी प्रकार की माँग उठाती रही हैं। इन जातियों की माँग यह है कि उन्हें 'अन्य पिछड़े वर्गों' में शामिल करके आरक्षण का लाभ दिया जाए।

आरक्षण : संविधान में

लोकलुभावन प्रतिस्पर्द्धा और चुनावी गणित के दबाव में स्थिति यह हो चुकी है कि किसी भी राज्य में कोई भी राजनीतिक दल इन ताक़तवर जातियों की इस माँग का विरोध करने की हिम्मत नहीं दिखा रहा है। कोई भी दल यह सोचने की जुर्रत नहीं कर रहा कि इन जातियों की माँग आरक्षण के उस मूल तर्क के विरुद्ध जाती है, जिसका हमारे संविधान-निर्माताओं ने एक विशेष नीति के रूप में प्रावधान किया था। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 15(4) तथा 16(4) में राज्य को स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि वह 'सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों अथवा अनुसूचित जातियों व जनजातियों के नागरिकों की उन्नति हेतु' राजकीय सेवाओं के अंतर्गत आरक्षण सहित विशेष प्रावधान कर सकता है। इन प्रावधानों की विशद् व्याख्या करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय (केरल राज्य बनाम एन.एम. थॉमस) दिया है कि उक्त उपायों को अनुच्छेद 14 (1), 15(1) तथा 16(1) में वर्णित समानता की गारंटी का अपवाद न मान कर उसके हितैषी के तौर पर देखा जाना चाहिए।[1] इसी तरह, अस्सी के दशक में मण्डल आयोग ने भी 'सामाजिक तथा शैक्षिक पिछड़ेपन' को ही अपनी अनुशंसाओं का आधार स्वीकार किया था।[2]

ज़ाहिर है कि डॉ. आम्बेडकर और हमारे संविधान के रचनाकार आरक्षण को सामाजिक समावेशन, बराबरी तथा न्याय की एक नीति के रूप में देखते थे। दरअसल यह एक ऐसा नीतिगत उपाय था जो नागरिकता की धारणा को मज़बूती प्रदान करता था। डॉ. आम्बेडकर ने संविधान सभा के समक्ष 25 नवम्बर, 1949 के दिन अपने आख़िरी भाषण में कहा था : राजनीतिक समानता— प्रत्येक व्यक्ति को मताधिकार प्रदान करने का सिद्धांत सामाजिक समानता की गारंटी नहीं हो सकता। और सच्चाई भी यही है कि भारत में सामाजिक समानता सिरे से ग़ायब है; यहाँ बंधुत्व जैसी कोई शै नहीं है। भारत में जाति की उपस्थिति के कारण सामाजिक जीवन खण्ड-खण्ड हो गया है। इस खाई को भरे बिना और सहज बंधुत्व के बग़ैर समानता और स्वतंत्रता की मौजूदगी दीवार पर किये जाने वाले रंग-रोगन से ज़्यादा गहरी नहीं हो सकती; इसके बिना नागरिकता के विचार को अमली जामा नहीं पहनाया जा सकता। सच तो यह है कि इसके बग़ैर हम राष्ट्र बनने की तरफ़ भी क़दम नहीं बढ़ा सकते।

इस प्रकार, आरक्षण की नीति वस्तुतः भारतीय लोकतंत्र के इस बृहत्तर स्वप्न को ज़मीन पर उतारने की योजना थी। संविधान के रचनाकारों की दृष्टि में यह न ग़रीबी उन्मूलन की परियोजना थी, न ही रोज़गारमूलक योजना। दुर्भाग्य से मराठा, पटेल और जाट समुदायों की यह माँग उस समूचे परिप्रेक्ष्य में ही पलीता लगा देती है जिसे आधार बना कर आरक्षण की यह नीति संविधान में संस्थापित

---

[1] देखें, http://shodhganga.inflibnet.ac.in.

[2] सुहास पलशीकर (2018).

की गयी थी। यह भारतीय समाज में लोकतांत्रिक चेतना का एक दुखद प्रसंग है कि आज़ादी के सात दशक बीत जाने पर भी इस देश में एक भी ऐसा दमदार सामाजिक आंदोलन दिखाई नहीं देता जो भारतीय समाज के रोम-रोम में घुसे इस अपमानजनक पदानुक्रम को नेस्तनाबूद कर सके! इसके बजाय हम देखते हैं कि आये दिन विभिन्न जाति-समूह आरक्षण हासिल करने के लिए अपने आर्थिक पिछड़ेपन का तर्क देकर कहीं विशाल रैलियाँ कर रहे हैं तो कहीं बंद का आयोजन कर रहे हैं। और राजनीतिक दल अपने लाभ के चक्कर में इस माँग को जैसे-तैसे पूरा करने के लिए जुगत भिड़ाने में लगे हैं।

आरक्षण : माँग की सीमाएँ

इन प्रभुत्वशाली जातियों की एक प्रमुख माँग यह है कि उन्हें उच्च शिक्षा में आरक्षण दिया जाना चाहिए। इन संस्थाओं में आरक्षण पाने का रास्ता बारहवीं कक्षा के बाद खुलता है। सरकारी नौकरी का लाभ उठाने के लिए भी यही पात्रता न्यूनतम मानी जाती है। लेकिन, भारत में हालत यह है कि पहली कक्षा में दाख़िला लेने वाले कुल बच्चों में केवल 16 प्रतिशत बच्चे ही बारहवीं पास कर पाते हैं। ज़ाहिर है कि अधिकांश बच्चे (84 प्रतिशत) बारहवीं तक पहुँचने से पहले ही स्कूल छोड़ देते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि अगर सरकार किसी तरह इन प्रभुत्वशाली जातियों को सरकारी नौकरियों तथा शैक्षिक संस्थानों में आरक्षण देने का रास्ता ढूँढ़ लेती है और इस पर अदालत से भी हरी झण्डी मिल जाती है, तो भी इन जातियों की आबादी का एक बहुत ही मामूली भाग इस 'लाभ' का अधिकारी बन पाएगा। (वास्तविकता यही है, बल्कि सही मायने में कहा जाए तो अनुसूचित जातियों, जन-जातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों पर तो यह बात और सटीक बैठती है। पहली कक्षा में दाख़िल होने वाले बच्चों में अन्य पिछड़े वर्ग के दस, अनुसूचित जातियों के आठ तथा अनुसूचित जनजातियों के केवल छह प्रतिशत बच्चे ही बारहवीं की वैतरणी पार कर पाते हैं। इसका मतलब यह है कि भारतीय संविधान में विन्यस्त सामाजिक न्याय के प्रावधान इस समाज के सबसे वंचित तबक़ों के अधिकांश लोगों के साथ आज भी लुका-छिपी का खेल खेल रहे हैं)।[3]

इसलिए, अगर मराठा, जाट, पटेल या गूजर समुदाय के युवाओं को अपने जाति-भाइयों के उत्थान की वाक़ई चिंता है तो उन्हें सरकार से सबसे पहले स्कूली शिक्षा को सार्वभौम बनाने की माँग करनी चाहिए। ऐसा करने के लिए सरकार को (1) स्कूली शिक्षा के बाज़ारीकरण के तमाम रूपों पर रोक लगानी पड़ेगी, (2) बारहवीं कक्षा तक पढ़ने वाले सभी बच्चों को वास्तविक अर्थों में अच्छे स्तर की शिक्षा मुहैया कराने के साथ धीरे-धीरे कम से कम केंद्रीय विद्यालयों के सम-स्तरीय सरकारी स्कूलों में पढ़ाई-लिखाई का स्तर सुधारना होगा; (3) अध्यापकों को ठेके पर नियुक्त करने की नीति ख़त्म करनी होगी और सभी अध्यापकों की योग्यता और प्रशिक्षण के मानदंड सुनिश्चित करने के अलावा यह भी ध्यान रखना होगा कि उन्हें अच्छे वेतन के साथ सामाजिक सुरक्षा भी उपलब्ध कराई जाए; और इसके लिए (4) उसे शिक्षा के मद में अपना व्यय बढ़ाना (केंद्र तथा राज्यों द्वारा ख़र्च की जाने वाली कुल राशि) होगा, जिसका मतलब यह है कि उसे कोठारी आयोग की अनुशंसाओं के अनुसार शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद का कम से कम छह प्रतिशत (कुल व्यय में केंद्र के 25 प्रतिशत योगदान सहित) व्यय करना होगा। वस्तुत: यही वह असल माँग है जिसे इस देश के तमाम लोगों को अपनी जातिगत निष्ठाओं से परे जाकर ज़ोर-शोर से उठाना चाहिए। यह एक ऐसी माँग है जिससे लोगों के बीच भाईचारे की भावना भी विकसित होगी।

---

[3] भारत के लब्ध-प्रतिष्ठ शिक्षाविद् अनिल सद्गोपाल का आकलन. यह भी देखें, लोकेश मालती प्रकाश (2012).

मराठा समुदाय : एक परिचय

चलिए, अभी थोड़ी देर के लिए मराठा समुदाय की आरक्षण संबंधी माँग के ग़लत और सीमित तर्क को ज़रा नेपथ्य में रखें और उन कारणों को समझने की कोशिश करें कि शैक्षिक संस्थाओं तथा सरकारी नौकरियों में आरक्षण हासिल करने की माँग पर समुदाय के लाखों-लाख नौजवान क्यों लामबंद हो गये हैं।

निस्संदेह महाराष्ट्र में मराठा समुदाय सर्वाधिक प्रभुत्वशाली समुदायों में गिना जाता है। राज्य की राजनीति में उनका ज़बरदस्त दबदबा है। 1962 से 2004 के बीच निर्वाचित होने वाले कुल 2,430 विधायकों में इस समुदाय के विधायकों की संख्या 1,336 अथवा 55 प्रतिशत रही है। इसी तरह, 1960 में एक स्वतंत्र राज्य के रूप में गठित होने के बाद महाराष्ट्र में अब तक के अठारह मुख्यमंत्रियों में दस मुख्यमंत्री इसी समुदाय से संबंधित रहे हैं। आर्थिक दृष्टि से भी मराठा समुदाय राज्य की सबसे ताक़तवर जातियों में शामिल रहा है। यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी अनेकानेक अध्ययनों और विभिन्न आयोगों की रपटों से भी तसदीक़ हो चुकी है। राज्य की 75 प्रतिशत से ज़्यादा ज़मीन इसी समुदाय के स्वामित्व में है; 54 प्रतिशत से ज़्यादा शैक्षिक संस्थान इसी समुदाय के नियंत्रण में हैं। इसी तरह, राज्य की 105 चीनी मिलों के 86 अध्यक्ष मराठा समुदाय से वास्ता रखते हैं; और राज्य के 23 ज़िला सहकारी बैंकों के मुखिया भी इसी समुदाय से आते हैं। राज्य के विश्वविद्यालयों में भी मराठों का वर्चस्व असंदिग्ध है। प्रबंधन के क्षेत्र में उनकी उपस्थिति 60 से 75 प्रतिशत तक फैली है। राज्य की 71 प्रतिशत सहकारिता संस्थाओं पर इसी समुदाय का क़ब्ज़ा है। इस सबके अलावा, यह और जोड़ लें कि दुग्ध उत्पादन के सभी सहकारी संगठनों तथा सूती मिलों पर या तो उनका प्रत्यक्ष स्वामित्व है या उनका कामकाज इसी समुदाय के इशारों पर चलता है।[4]

आख़िर क्या वजह है कि एक ऐसा दबंग समुदाय जिसने आठवें दशक के अंतिम दौर में उभरे मण्डल विरोधी आंदोलन में जाति-आधारित आरक्षण का विरोध किया था, आज खुद आरक्षण की माँग पर उतर आया है ?

मराठों की समस्त समृद्धि उनके एक छोटे से समूह तक सीमित है। चीनी मिलों, सहकारी बैंकों, दुग्ध सहकारिता समूहों तथा शैक्षिक संस्थाओं का यह मालिकाना मुट्ठी भर लोगों के पास है, जबकि समुदाय के अधिकांश लोग लघु और मँझोले स्तर की किसानी करते हैं। ... केवल तीन प्रतिशत लोगों को ही धनवान कहा जा सकता है। जबकि इसके दूसरे सिरे पर बीस प्रतिशत लोग भूमिहीन तथा पंद्रह प्रतिशत तीन एकड़ से कम ज़मीन के मालिक हैं। ... भू-स्वामित्व के मामले में मराठा समुदाय के लगभग 65 प्रतिशत लोग ग़रीबी की श्रेणी में आते हैं। इनमें बमुश्किल चार प्रतिशत लोगों के पास ही बीस एकड़ से ज़्यादा ज़मीन है।

बढ़ता आर्थिक संकट

दरअसल इसकी वजह यह है कि मराठों की यह समस्त समृद्धि उनके एक छोटे से समूह तक सीमित है। चीनी मिलों, सहकारी बैंकों, दुग्ध सहकारिता समूहों तथा शैक्षिक संस्थाओं का यह मालिकाना मुट्ठी भर लोगों के पास है, जबकि समुदाय के अधिकांश लोग लघु और मँझोले स्तर की किसानी करते हैं। विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) द्वारा 2014 में किये गये एक सर्वेक्षण

[4] मीना मेनन (2012).

में कुछ मराठा परिवारों से बात की गयी थी, जिनमें केवल तीन प्रतिशत लोगों को ही धनवान कहा जा सकता था। जबकि इसके दूसरे सिरे पर बीस प्रतिशत लोग भूमिहीन तथा पंद्रह प्रतिशत तीन एकड़ से कम ज़मीन के मालिक थे। पुणे की सावित्री बाई फुले विश्वविद्यालय के दो प्रमुख राजनीति विज्ञानी— राजेश्वरी देशपाण्डे तथा सुहाश पलशीकर द्वारा किये गये एक अन्य सर्वेक्षण से यह तथ्य सामने आया कि 'भू-स्वामित्व के मामले में मराठा समुदाय के लगभग 65 प्रतिशत लोग ग़रीबी की श्रेणी में आते हैं। इनमें बमुश्किल चार प्रतिशत लोगों के पास ही बीस एकड़ से ज़्यादा ज़मीन है। ज़ाहिर है कि केवल इन्हीं लोगों को समृद्ध किसानों की श्रेणी में रखा जा सकता है'।[5]

राज्य की मराठा आबादी में छोटी या नाम-मात्र की जोत रखने वाले इन किसानों की संख्या ही सबसे ज़्यादा है। देश में पिछले तीन दशकों से जारी नव-उदारतावादी आर्थिक नीतियों के पेशे-नज़र समुदाय के अधिकांश लोगों के सामने जीविका का संकट विकराल रूप ले चुका है। ग़ौरतलब है कि 1991 में भारत सरकार ने अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष-विश्व बैंक तथा अमेरिका एवं युरोपीय संघ द्वारा नियंत्रित अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के साथ एक क़रार पर दस्तख़त किये थे। इस क़रार के तहत भारत ने ऋण की एक विशाल राशि के बदले अपनी अर्थव्यवस्था में आमूल-चूल बदलाव का वायदा किया था। भारत सरकार द्वारा स्वीकार किये गये इस समझौते के अंतर्गत निम्नलिखित शर्तें शामिल थीं।[6]

(1) विदेशी निगमों को भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में अबाध रूप से प्रवेश करने की अनुमति।

(2) सार्वजनिक क्षेत्र के निगमों तथा सार्वजनिक क्षेत्र की वित्तीय संस्थाओं के अलावा शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी लोक-कल्याणकारी सेवाओं का निजीकरण।

(3) ग़रीब वर्ग को दी जाने वाली सब्सिडी सहित कृषि, स्वास्थ्य, शिक्षा तथा पौष्टिक आहार आदि जैसे क्षेत्रों में दी जाने वाली सब्सिडी में कटौती।

दरअसल, यह उस सिलसिले की शुरुआत थी जिसे आजकल भारतीय अर्थव्यवस्था का वैश्वीकरण कहा जाता है। अर्थव्यवस्था के इस वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप खेती का समूचा क्षेत्र भीषण संकट में फँस गया है। इसके चलते गाँव के युवाओं— लघु और सीमांत किसानों के बच्चों का गाँवों और किसानी से मोहभंग हो चुका है। अब काम-काज की तलाश में वे शहरों की ओर कूच कर रहे हैं। लेकिन अब शहरों में भी रोज़गार के अवसर नहीं रह गये हैं! असल में, नव-उदारतावाद की आर्थिक नीति दोनों तरफ़ वार कर रही है— अगर एक तरफ़ उसके कारण खेती का सर्वनाश हो गया है तो दूसरी ओर नौकरियों पर भी ताले लग गये हैं। निजी क्षेत्र में रोज़गार का सृजन लगभग ठप्प हो चुका है। मैन्युफ़ैक्चरिंग सहित अन्य निजी क्षेत्रों में अव्वल तो नौकरियाँ ही बहुत कम बची हैं, और जहाँ कहीं इसकी सम्भावना होती है, वहाँ उस पर असुरक्षा, सेवा-शर्तों में ठेकेदारी और कम वेतन का साया मँडराता रहता है।

यही वजह है कि आज युवाओं को रोज़गार के इस संकट से निकलने का रास्ता केवल सरकारी नौकरी में ही नज़र आता है। आज वही एक ऐसी नौकरी रह गयी है जिसमें उन्हें सुरक्षा के साथ ठीक-ठाक वेतन की उम्मीद भी रहती है। सरकार की उपलब्ध नौकरियों में पचास प्रतिशत नौकरियाँ अनुसूचित जातियों, जन जातियों तथा अन्य पिछड़े वर्ग के लिए आरक्षित हैं। मराठा

---

[5] अक्षत कौशल और मयंक मिश्र (2015).

[6] इंटरनेट पर इससे संबंधित कई लेख देखे जा सकते हैं. उदाहरण के लिए देखें, *स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट इन इण्डिया,* वर्ल्ड बैंक, 2012, https://Inweb90.worldbank.org.; मोंटेक सिंह अहलुवालिया (1994).www.planningcommission.nic.in.; अश्विनी देशपाण्डे और प्रबरजित सरकार (1995). http://www.epw.in.; डेविड हार्वे (2005) : 7-8, 29, 64-66.

समुदाय के नवयुवक आरक्षण की माँग लेकर इसीलिए सड़कों पर उतरे हैं। उन्हें लगता है कि अगर उनकी माँग स्वीकार कर ली गयी तो बहुतों की झोली पक्की और बढ़िया नौकरियों से भर जाएगी।

आरक्षण की माँग को ले कर उभर रहे विभिन्न आंदोलनों के पीछे यही मूल कारण है। और यह केवल महाराष्ट्र के मराठा समुदाय तक सीमित नहीं है। गुजरात में पटेल (जिन्हें पाटीदार भी कहा जाता है), हरियाणा में जाट, राजस्थान में गुज्जर तथा आंध्र प्रदेश में कापू जैसे दबंग समुदाय भी यही माँग कर रहे हैं। संबंधित राज्य-सरकारों के साथ केंद्र सरकार भी इन समुदायों की माँग को शह दे रही है। ग़ौरतलब है कि सर्वोच्च न्यायालय इन समुदायों को आरक्षण का लाभ दिये जाने के पक्ष में नहीं है। वह इस माँग को पहले ही ख़ारिज कर चुका है। उसका स्पष्ट मानना है कि आरक्षण की सीमा पचास प्रतिशत से ज़्यादा नहीं बढ़ाई जा सकती। लेकिन, राज्य सरकार और केंद्र, दोनों इस जुगत में लगे हैं कि सर्वोच्च न्यायालय के आदेश का तोड़ कैसे ढूँढ़ा जाए! चूँकि विपक्ष भी नव-उदारतावाद की आर्थिक सैद्धांतिकी पर सवाल नहीं करना चाहता, इसलिए वह भी आरक्षण के इसी विमर्श पर अटका हुआ है।

प्रस्तुत लेख दो भागों में विभाजित है। इसके पहले भाग में हमने देश के कृषि-संकट की पड़ताल करने का प्रयास किया है; दूसरे भाग में रोज़गार के गहराते संकट पर दृष्टिपात किया गया है और अंततः इसके आलोक में मराठा युवाओं द्वारा सरकारी नौकरियों में आरक्षण की माँग का एक विश्लेषण करने की कोशिश की गयी है।

खेती का समूचा क्षेत्र भीषण संकट में फँस गया है। इसके चलते गाँव के युवाओं— लघु और सीमांत किसानों के बच्चों का गाँवों और किसानी से मोहभंग हो चुका है। अब काम-काज की तलाश में वे शहरों की ओर कूच कर रहे हैं। लेकिन अब शहरों में भी रोज़गार के अवसर नहीं रह गये हैं! असल में, नव-उदारतावाद की आर्थिक नीति दोनों तरफ़ वार कर रही है— अगर एक तरफ़ उसके कारण खेती का सर्वनाश हो गया है तो दूसरी ओर नौकरियों पर भी ताले लग गये हैं। निजी क्षेत्र में रोज़गार का सृजन लगभग ठप्प हो चुका है। मैन्युफ़ैक्चरिंग सहित अन्य निजी क्षेत्रों में अव्वल तो नौकरियाँ ही बहुत कम बची हैं, और जहाँ कहीं इसकी सम्भावना होती है, वहाँ उस पर असुरक्षा, सेवा-शर्तों में ठेकेदारी और कम वेतन का साया मँडराता रहता है।

संकट खेती का

यह किसी उलटबाँसी से कम नहीं है कि एक ओर 1983-84 से लेकर 2010-11 के दौरान देश के सकल घरेलू उत्पादन में खेती का योगदान घट कर आधा हो गया है,[7] वहीं दूसरी तरफ़ आजीविका की दृष्टि से खेती आज भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। 2009-10 के आँकड़ों के अनुसार देश की कुल श्रमशक्ति में 53 प्रतिशत लोग अपनी जीविका के लिए इसी क्षेत्र पर निर्भर करते हैं।

पिछले तीन दशकों के दौरान केंद्र में हर नयी सरकार अपनी नव-उदारवादी नीतियों के तहत खेती को मिलने वाली सब्सिडी में धीरे-धीरे कटौती करते हुए 'उन्मुक्त बाज़ार' का निर्माण करती गयी है। इन वर्षों में विभिन्न सरकारों ने खेती में सार्वजनिक निवेश में

[7] योजना आयोग की सारणियों से संगृहीत आँकड़े. 23 दिसम्बर, 2014. 'ग्रॉस डॉमेस्टिक प्रोडक्ट फ्रॉम एग्रीकल्चर ऐंड अलाइड सेक्टर्स ऐंड % शेयर टू जीडीपी 1950-51 एट कोंस्टेंट 2004-05 प्राइसिज़', डेटा टेबल्स, प्लानिंग कमीशन, 23 दिसम्बर, 2014.; http://ww.planningcommission.nic.in.

कमी; खेती की प्रक्रिया में इस्तेमाल किये जाने वाले आवश्यक उपकरणों (जैसे उर्वरक, बिजली तथा सिंचाई संबंधी सब्सिडी आदि) पर दी जानी वाली सब्सिडी में कटौती, कृषि-उत्पादन को सार्वजनिक स्तर पर उपलब्ध कराने की व्यवस्था के ख़ात्मे, खेती के लिए सार्वजनिक बैंकों द्वारा कम दर ऋण पर उपलब्ध कराने की व्यवस्था को भंग करने तथा विकसित देशों के सस्ते उत्पादों के आयात में (खेती के उत्पादों को मिलनी वाली सब्सिडी के कारण) ढील देने[8] आदि जैसे हमलावर तरीक़े अपना कर खेती को विनाश के कगार पर पहुँचा दिया है।

रक़बा, उत्पादन या पैदावार अथवा खाद्यान्न या ग़ैर-खाद्यान्न उत्पाद—खेती की हालत बयान करने वाले किसी भी संकेतक पर नज़र डाल कर देख लें, वैश्वीकरण से पहले और बाद के दौर में एक गहरी फाँक दिखाई देती है (देखें, तालिका-1)।

तालिका-1
खाद्यान्न, ग़ैर-खाद्यान्न उत्पाद तथा समस्त फ़सलों के रक़बे, उत्पादन तथा पैदावार की औसत वृद्धि दर[9]

	खाद्यान्न			ग़ैर-खाद्यान्न			कुल फ़सलें		
	क्षेत्रफल	उत्पादन	पैदावार	क्षेत्रफल	उत्पादन	पैदावार	क्षेत्रफल	उत्पादन	पैदावार
1950-51 और 1989-90	0.61	2.61	1.60	1.22	2.97	1.08	0.79	2.66	1.37
1990-91 और 2004-05	-0.07	1.64	1.27	1.03	2.81	1.39	0.25	1.96	1.29

छोटी जोत के किसानों पर भीषण चोट करने वाली इन नीतियों का अंतिम परिणाम यह हुआ है कि एक हेक्टेयर से कम जोत वाले 70 प्रतिशत किसानों की कुल आय (खेती, पशुपालन, ग़ैर-खेतिहर व्यवसाय तथा मज़दूरी जैसे तमाम स्रोतों को मिलाकर) उनके निजी उपभोग के ख़र्च से भी कम हो गयी है।[10] ग्रामीण क्षेत्रों में इसका प्रभाव किसानों की बढ़ती ऋणग्रस्तता में देखा जा सकता है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (एनएसएसओ) के आँकड़ों के अनुसार वर्ष 2012-13 में देश की कुल खेतिहर आबादी में 52 प्रतिशत लोग कर्ज़मंद थे। किसान-परिवारों पर यह कर्ज़ औसतन 47,000 हज़ार रुपये बैठता था। विचित्र बात यह है कि उस समय देश में एक किसान-परिवार को खेती से प्राप्त होने वाली औसत आय महज़ 36,972 रुपये थी![11]

मोदी सरकार के दौर में नव-उदारवादी नीतियों की रफ़्तार पहले के मुक़ाबले और तेज़ हो गयी है। नतीजतन खेती का संकट और प्रचण्ड हो गया है। 2014 के चुनाव अभियान के दौरान मोदी ने किसानों को न्यूनतम समर्थन मूल्य देने का वायदा किया था। अगर वाक़ई ऐसा हुआ होता तो किसानों को अपने लागत मूल्य पर 50 प्रतिशत का निश्चित लाभ मिलता। लेकिन सत्ता में आते ही मोदी सरकार अपने वायदे से पलट गयी। कृषि-उत्पादों की सरकारी ख़रीद पर फ़िलहाल सरकार ने गहरी चुप्पी

---

[8] इस पर और ज़्यादा चर्चा के लिए देखें, नीरज जैन (2018), नीरज जैन (2016) : 54-59.

[9] राघवेंद्र झा (2007).

[10] 'अ बजट एमिड एग्रेरियन क्राइसिस पार्ट 111', *रिसर्च यूनिट फ़ॉर पॉलिटिकल इकॉनॉमी*, http://rupeindia.wordpress.com.

[11] 'फ़ार्मर्स इनडेटिडनैस : इनटू द एबिस', 30 जनवरी, 2015, http://www.downtoearth.org.in.

साध ली है। इतना ही नहीं, इस दौरान सरकार ने खेती को उर्वरक के रूप में मिलने वाली सब्सिडी में और कटौती कर दी है।[12] कर्ज़ का संकट बेकाबू होते जाने के बावजूद केंद्र सरकार ने किसानों का कृषि-ऋण माफ़ करने से इंकार कर दिया है (इस मामले में ताज़ा स्थिति यह है कि किसानों के देश-व्यापी आंदोलन के बाद कुछ राज्य सरकारों ने यह ऋण माफ़ करने की घोषणा की है)। देश के करोड़ों किसानों को इस संकट से उबारने के लिए सरकार को ज़्यादा से ज़्यादा तीन लाख करोड़ रुपये[13] ख़र्च करने पड़ते।

तालिका-2
भाजपा सरकार द्वारा कृषि संबंधी क्षेत्रों को आबंटित की गयी राशि, 2014-18[14] (करोड़)

		2014-15	2018-19
1	कृषि एवं किसान कल्याण मंत्रालय	31,917	57,600
	(1) बजट के आबंटन का प्रतिशत	1.92%	2.36%
2	कृषि पर किया गया कुल व्यय *	1,78,225	2,51,500
	कृषि पर किया गया कुल व्यय(2)बजट के आबंटन का प्रतिशत	10.71%	10.30%
	कृषि पर किया गया कुल व्यय (2) जीडीपी का प्रतिशत	1.43%	1.34%

* *कृषि, ग्रामीण विकास, जल-संसाधन मंत्रालय तथा उर्वरक विभाग सहित*

केंद्र सरकार के 2018-19 के बजट में कृषि एवं किसान कल्याण मंत्रालय के लिए महज़ 57,000 हज़ार करोड़ रुपयों का आबंटन किया गया है, जो कुल बजट का केवल 2.36 प्रतिशत बैठता है। आबंटन की यह राशि उस क्षेत्र के लिए है जिस पर देश की 50 प्रतिशत आबादी अपनी जीविका के लिए निर्भर करती है! इस मामले में ग़ौर करने की बात यह है कि खेती से जुड़े अन्य क्षेत्रों जैसे ग्रामीण विकास, जल संसाधन तथा उर्वरकों पर दी जाने वाली सब्सिडी के रूप में सरकार के कुल व्यय में गिरावट आयी है। सकल घरेलू उत्पादन के नज़रिये से देखें तो पिछली सरकार के आख़िरी साल में खेती से संबंधित उपरोक्त क्षेत्रों पर सरकार का व्यय पहले ही बहुत कम— केवल 1.43 प्रतिशत था, जो मोदी सरकार के पहले वर्ष में घटकर सिर्फ़ 1.34 रह गया। (देखें, तालिका-2)

पिछले तीन दशकों से सरकार की जनविरोधी नीतियों और बढ़ते कर्ज़ की मार झेलते-झेलते भारत के किसान, जिन्हें आमतौर पर कड़े जीवट का माना जाता है, अब इतनी गहन निराशा में डूब चुके हैं कि बड़े पैमाने पर आत्महत्या करने लगे हैं। देश में 1995 के बाद तीन लाख से ज़्यादा किसान ख़ुदकुशी कर चुके हैं। इतिहास में मृत्यु का यह सबसे बड़ा आँकड़ा है।[15]

इस संकट के दिनोंदिन गहराते जाने के कारण इस क्षेत्र में रोज़गार की सम्भावना लगभग पूरी तरह ख़त्म हो चुकी है। रोज़गार की दृष्टि से 1993-94 से लेकर 2009-10 की सोलह वर्ष लम्बी अवधि में खेती के क्षेत्र में केवल चौबीस लाख अथवा केवल एक प्रतिशत (तालिका-3) की वृद्धि हुई है।

---

[12] इस पर और ज़्यादा चर्चा के लिए देखें, नीरज जैन (2017).

[13] *इण्डिया फेसिज़ रुपीज़ थ्री लाख करोड़ फ़ॉर्म लोन वेवर्स— 16 टाइम्स 2017 रूरल रोड्स बजट,* http://www.business-standard.com. 17 जून, 2017.

[14] समस्त आँकड़े केंद्रीय बजट के दस्तावेज़ों से लिए गये हैं. देखें, http://indiabudget.nic.in.

[15] पी. साईंनाथ (2015).

तालिका-3
खेती में रोज़गार : सुधारों से पहले, सुधारों के बाद[16] (लाख में)

	कृषिगत रोज़गार
1983	207.23
1993-94	242.46
1999-2000	237.67
2004-05	258.93
2009-10	244.85

शहरों में बेरोज़गारी

विश्व बैंक द्वारा भारत पर थोपी गयी शर्तों के तहत, 1991 के बाद धीरे-धीरे देश की हरेक सरकार विदेशी बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रवेश पर लगे प्रतिबंध हटाती गयी है। अपने चार वर्ष के कार्यकाल में मोदी की स्वदेशी सरकार ने विदेशी निवेश से संबंधित नियमों को और लचीला बना दिया है। अब यह बात बड़े गर्व से कही जाती है कि आज भारत विदेश निवेश के हिसाब से दुनिया की सबसे बड़ी मण्डी बन चुका है! और यह सिलसिला सिर्फ़ इतने पर ही नहीं रुका है, अब तो समग्र आर्थिक नीति को एक ऐसा रूप दिया जा रहा है कि बड़े निगमों को अधिकतम मुनाफ़ा मिल सके। मसलन, सरकार श्रम क़ानूनों को हर दिन लचीला बनाती जा रही है ताकि बड़े निगम लोगों को स्थायी नौकरी देने के बजाय उन्हें ठेके पर रख सकें; उन्हें न्यूनतम दर पर वेतन दे सकें और उन्हें जब चाहे नौकरी से निकाल सकें। इसका देश में उपलब्ध नौकरियों पर बहुत बुरा असर पड़ा है।

महाकाय निगम लोगों को कभी बड़े पैमाने पर नौकरी नहीं देते। उनमें निरंतर कुछ ऐसी तकनीकों का प्रयोग किया जाता है ताकि श्रमिकों की संख्या न्यूनतम स्तर रखी जा सके।[17] जैसा कि हमने अभी पीछे कहा, श्रम क़ानूनों को दिनोंदिन कमज़ोर करते जाने के कारण ऐसे निगमों द्वारा दी जाने वाली मुट्ठी भर नौकरियों की सेवा-शर्तें ठेकेदारी के नियमों से तय होने लगी हैं। ऐसी नौकरियों को वेतन के हिसाब से बहुत आकर्षक नहीं कहा जा सकता। दूसरी तरफ़ से देखें तो अपने विशाल आकार के कारण ऐसी कम्पनियों का प्रवेश होते ही छोटी कम्पनियाँ या तो बंद होने लगती हैं अथवा उनका इन बड़ी कम्पनियों में विलय हो जाता है। ऐसे में होता यह है कि ये विशालकाय निगम उतनी नौकरियाँ देते नहीं करते जितनी हज़म कर जाते हैं।

भारत में ठीक यही चल रहा है। वैश्वीकरण के तीन दशक बाद देश में विदेशी निगमों की भरमार हो चुकी है; उद्योगीकरण अप्रत्याशित रफ़्तार से बढ़ा है; सकल घरेलू उत्पाद की दर में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है, परंतु इस सब से रोज़गार में कोई इज़ाफ़ा नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए, 1993-94 से लेकर 2009-10 तक की सोलह वर्ष लम्बी अवधि में भारत की समस्त पंजीकृत फ़ैक्ट्रियों (छोटी-बड़ी, दोनों को मिला कर) द्वारा पैदा किये गये कुल रोज़गार (कर्मचारियों तथा विक्रय, निरीक्षण और प्रबंधन से जुड़े स्टाफ़ सहित) में केवल 3.01 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इसका मतलब यह हुआ कि इन सोलह वर्षों के दौरान रोज़गार के बाज़ार में दाख़िल होने वाले कुल लोगों में केवल 1.5 प्रतिशत (20.8 करोड़ में केवल 30 लाख) लोगों को ही फ़ैक्ट्रियों में नौकरियाँ मिल पायी। दूसरे शब्दों में, 1991 में वैश्वीकरण के आगाज़ के साथ भारत में विदेशी बहुराष्ट्रीय निगमों का भारी पैमाने पर आगमन हुआ, लेकिन इस दौरान लोगों को फ़ैक्ट्रियों में बहुत ही कम संख्या में नौकरी मिली है। हक़ीक़त यह है कि वैश्वीकरण के दो दशक बाद 2010 में फ़ैक्ट्रियों में काम करने वाले लोगों की कुल संख्या महज़ एक करोड़ 17.2 लाख अथवा देश के कुल कार्यबल— 46 करोड़ का 2.5 प्रतिशत बैठती थी।[18] चौथी सारणी में वर्गीकृत आँकड़ों से पता चलता है कि इन 46 करोड़ लोगों में कुल छह

---

[16] 1983 और 1993-94 के आँकड़ों के लिए देखें, *इकॉनॉमिक सर्वे, 2001-02: सोशल सेक्टर— लेबर ऐंड एम्प्लॉयमेंट,* http://india-budget.nic.in. ; 1999-00, 2004-05 तथा 2009-10 के आँकड़ों के लिए यह देखें, *ट्वेल्फ़्थ फ़ाइव ईयर प्लॉन : वॉल्यूम 3— सोशल सेक्टर,* http://ww.planningcommission.nic.in.

[17] विस्तार से जानने के लिए देखें हमारी पुस्तिका. *द एम्प्लॉयमेंट क्राइसिस: रीज़ंस ऐंड सॉल्युशंस :* 42.

[18] *एनुएल सर्वे ऑफ़ इंडस्ट्रीज 2010-2011 (फ़ैक्ट्री सेक्टर),* mail.mospi.gov.in/index.php.
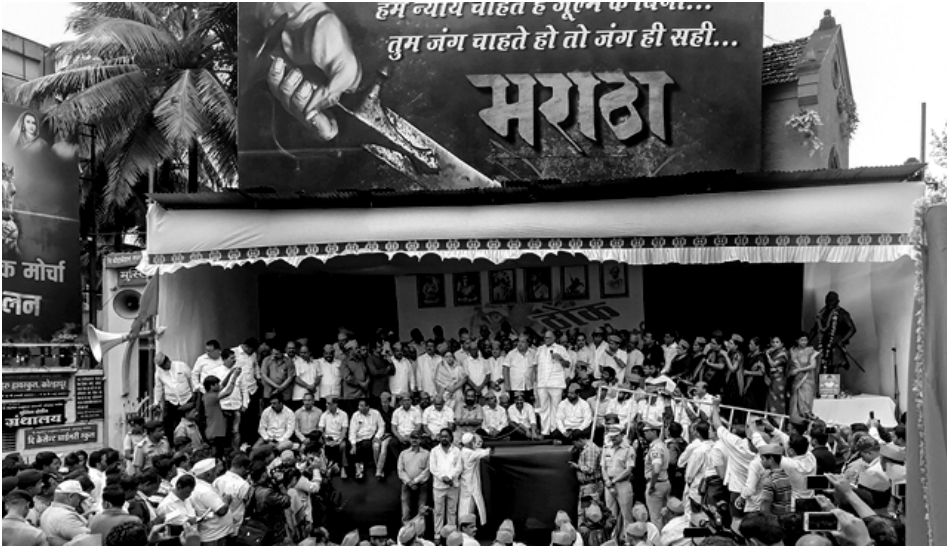
करोड़ 35 लाख लोगों या केवल 13.80 प्रतिशत लोगों को ही नौकरी मिल सकी।

इसका कुल परिणाम यह हुआ है कि वैश्वीकरण की शुरुआत के बाद देश में रोज़गार की वृद्धिदर मंदी का शिकार हो गयी है। 1972-73—1983 के दौरान देश में रोज़गार की मिश्रित वार्षिक वृद्धि दर (कंपाउंड एनुएल ग्रोथ रेट) 2.44 प्रतिशत थी, जो 1983—1993-94 की अवधि में घट कर 2.04 प्रतिशत रह गयी। ग़ौरतलब है कि वैश्वीकरण के उत्तरवर्ती वर्षों—1993-94 से लेकर 2009-10 के दौरान यह वार्षिक वृद्धि दर 1.3 प्रतिशत पर सिमटी रही। वर्ष 1999-2000—2009-10 की अवधि में यह वार्षिक वृद्धि दर 1.49 प्रतिशत पर ठहरी रही। अगर एक दशक को पैमाना मान कर चला जाए तो पिछले किसी भी दशक में रोज़गार की वार्षिक वृद्धि दर इससे कम नहीं रही थी। विचित्र ये है कि रोज़गार में यह गिरावट ठीक उन्हीं वर्षों में दर्ज की गयी जब देश में जीडीपी की वृद्धि दर कुलाँचे भर रही थी (देखें, तालिका-4)।

तालिका-4

कुल रोज़गार, रोज़गार वृद्धि दर तथा जीडीपी वृद्धि दर : 1983 से 2009-10 [19]

1983	302.76	1972-73 और 1983	2.44%	4.7%
1993-94	374.45	1983 और 1993-94	2.04%	5.0%
1999-2000	396.76	1993-94 और 2004-05	1.84%	6.3%
2004-05	457.46	2004-05 और 2009-10	0.12%	9.1%
2009-10	460.22	1999-2000 और 2009-10	1.49%	
		1993-94 और 2009-10	1.30%	

[19] सकल घरेलू उत्पादन की वृद्धि के आँकड़ों के लिए देखें, टी.एस. पापोला तथा पार्थ प्रतिम साहू (2012). मार्च, 2012, http://isidev.nic.in. ; 1972-73 से 1983 की अवधि में मिश्रित वार्षिक वृद्धि दर (सीएजीआर) के लिए देखें, महेंद्र देव (2013); तथा 1983 से 1993-94 के दरमियान रोज़गार के आँकड़ों के लिए देखें, *इकॉनॉमिक सर्वे, 2001-02: सोशल सेक्टर्स— लेबर ऐंड एम्प्लॉयमेंट,* http://indiabudget.nic.in. ; 1999-2000, 2004-05 तथा 2009-10 के रोज़गार संबंधी आँकड़े *ट्वेल्फ़्थ फ़ाइव ईयर प्लॉन : वॉल्यूम 3—सोशल सेक्टर्स* : 160. सीएजीआर की गणना हमने स्वयं की है.

एक अनुमान के मुताबिक़ भारत में रोज़गार के बाज़ार में हर वर्ष एक करोड़ तीस लाख नये लोग दाख़िल होते हैं।[20] इसका मतलब यह हुआ कि 1999–10 से 2009–10 की अवधि में रोज़गार ढूँढ़ने वाले लोगों की संख्या तेरह करोड़ तक पहुँच गयी। सारणी संख्या 4 में वर्णित राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के आँकड़ों से पता चलता है कि इन लोगों में केवल छह करोड़ पैंतीस लाख अथवा 48.8 प्रतिशत लोगों को ही किसी प्रकार की नौकरी मिल पायी।

इससे भयावह बात यह है कि ऐसी तमाम नौकरियाँ सम्भवत: न्यूनतम मज़दूरी से भी कम वेतनमान की अनौपचारिक नौकरियाँ थीं जिनमें न नौकरी की सुरक्षा थी, न चोट लगने पर मुआवज़े की राशि मिलने का प्रावधान था; और न ही वैतनिक अथवा बीमारी के समय अवकाश जैसी कोई सुविधा थी। सन् 2000–10 की अवधि में जितनी भी नौकरियों का सृजन किया गया, उनमें एक भी नौकरी औपचारिक क्षेत्र से ताल्लुक़ नहीं रखती थी, जिसका मतलब था कि इन नौकरियों में रोज़गार की सुरक्षा, न्यूनतम मज़दूरी, बीमारी के समय अवकाश, कार्य–स्थल पर चोट लगने की स्थिति में मुआवज़ा प्रदान करने तथा किसी तरह का मज़दूर संगठन बनाने जैसे क़ानूनी अधिकार नदारद थे। इसके पीछे मूल कारण यह था कि इस दौरान सरकार श्रम क़ानूनों के ढाँचे को तहस–नहस करती जा रही थी जिसके चलते नौकरियों में ठेकेदारी का चलन बढ़ने लगा था। योजना आयोग के अनुसार 1999–2000 से लेकर 2009–10 के दौरान अर्थव्यवस्था के औपचारिक क्षेत्र की नौकरियाँ 3.5 करोड़ से घटकर 3.3 करोड़ रह गयीं (देखें, तालिका–5)!

तालिका–5

भारत में औपचारिक एवं अनौपचारिक रोज़गार [21] (करोड़ में)

रोज़गार का क्षेत्र	1999–2000	2009–10
औपचारिक रोज़गार	35.0	33.0
अनौपचारिक रोज़गार	361.7	427.22
सकल कार्यबल	396.8	460.22

इसका परिणाम यह हुआ कि देश के कुल कार्यबल में औपचारिक क्षेत्र के कर्मचारियों— भारत सरकार के आर्थिक सर्वे के अनुसार 'अच्छी नौकरी'[22] वालों की संख्या केवल 7.2 प्रतिशत रह गयी है।[23] बाक़ी बचे 92.8 प्रतिशत लोगों में ठेलियों पर कुछेक दर्जन केले, साइकिल पर जहाँ–तहाँ जाकर मूँगफली और अन्य प्रकार का चना–चबैना; सड़क के किनारे कपड़े और कुछ ऐसी ही चीज़ें बेचते; घरों से पुराने अख़बारों की रद्दी और लोहा–लंगड़ इकट्ठा करने वाले; बीए पास करके मोबाइल रिचार्ज करने की छोटी–छोटी दुकानें खोल कर बैठे या हर दिन बारह–बारह घंटे ऑटो रिक्शा चलाने वाले; घर–घर जाकर कॉस्मेटिक्स, साड़ी, किताबें बेचते लड़के–लड़कियों; भवन–निर्माण के असंगठित क्षेत्र में ख़तरनाक हालात में काम करने वाले मज़दूरों और अपनी बित्ते भर की जोत पर अच्छी कमाई की उम्मीद में दिन–रात पसीना बहाते किसानों की एक विशाल दुनिया है!

---

[20] के. मुथुकमार तथा आर. सीतारमण (2017).

[21] *ट्वेल्फ़्थ फ़ाइव ईयर प्लॉन : वॉल्यूम 3—सोशल सेक्टर्स,* पूर्वोक्त : 131.

[22] *इकॉनॉमिक सर्वे, 2015–16: वॉल्यूम 1 :* 140. http://indiabudget.nic.in.

[23] *ट्वेल्फ़्थ फ़ाइव ईयर प्लॉन : वॉल्यूम 3—सोशल सेक्टर्स,* पूर्वोक्त : 131.

मोदी सरकार की ताजपोशी के बाद नव-उदारतावादी नीतियाँ और हमलावर हो गयी हैं जिसके चलते रोज़गार का संकट पहले से ज़्यादा संगीन हो गया है। एक हालिया अध्ययन के मुताबिक़ मोदी सरकार के शुरुआती दो वर्षों के दौरान (2014-16) रोज़गार के क्षेत्र में अनन्य गिरावट दर्ज की गयी। आज़ादी के बाद ऐसा शायद पहली बार हुआ है।[24]

रोज़गार के इस संकट में मोदी सरकार के दो आर्थिक क़दमों— नोटबंदी (नवम्बर, 2016 में घोषित) तथा जीएसटी की घोषणा ने जैसे कोढ़ में खाज का काम किया। इन दो फ़ैसलों ने अनौपचारिक क्षेत्र की रीढ़ तोड़ कर रख दी। इसके परिणामस्वरूप न केवल हज़ारों छोटी-छोटी इकाइयाँ तबाह हुईं, बल्कि लाखों की संख्या में नौकरियाँ भी ख़त्म हो गयीं। सेंटर फ़ॉर मॉनीटरिंग इण्डियन इकॉनॉमी (सीएमआइआई) ने अपने आकलन में कहा है कि नोटबंदी के बाद जनवरी से अप्रैल, 2017 के चार महीनों की अवधि में लगभग 15 लाख नौकरियाँ समाप्त हुई थीं।[25]

युवाओं को लगता है कि सरकारी नौकरियाँ भारी संख्या में उपलब्ध हैं, और अगर उनकी जाति को अन्य पिछड़े वर्ग में शामिल कर लिया जाए; और इस तरह उन्हें सरकारी नौकरी हासिल करने की अर्हता मिल जाए तो उन्हें बड़ी संख्या में सरकारी नौकरियाँ मिलने लगेंगी। लेकिन, हक़ीक़त यह है कि सरकार के पास भी नौकरियाँ नहीं बची हैं! सच्चाई यह है कि देश के कुल रोज़गार में सार्वजनिक क्षेत्र के रोज़गार की हैसियत केवल चार प्रतिशत रह गयी है।

आरक्षण की माँग यहीं से शुरू होती है

वैश्वीकरण के बाद अमीर वर्ग, ख़ासकर शीर्ष पर बैठे मुख्यतः एक प्रतिशत से लेकर दस प्रतिशत (शीर्षतम वर्ग के मुक़ाबले थोड़ी कम मात्रा में) की सम्पदा में ज़बरदस्त इज़ाफ़ा हुआ है।[26] दूसरी तरफ़ बहुसंख्यक जनता के लिए यह आर्थिक सुधार उनके रोजग़ार और जीविका के लिए तबाहकुन साबित हुए हैं। इन सुधारों से करोड़ों लोग भुखमरी के कगार पर पहुँच गये हैं। सुधारों की गाज़ महाराष्ट्र के मराठे, गुजरात के पटेल तथा हरियाणा के जाट समुदाय पर सबसे ज़्यादा पड़ी है। अभी तक प्रभुत्वशाली रही इन जातियों के नौजवान पहले या तो खेती की राह पकड़ लेते थे अथवा शहरों में जाकर उद्योग/सेवा क्षेत्र आदि में भाग्य आजमाते थे। लेकिन, अब इन नौजवानों के सामने बेरोजग़ारी मुँह बाये खड़ी है। तिकड़मी नेताओं ने युवाओं के इस मोह-भंग को सरकारी नौकरियों में आरक्षण की माँग का रूप दे डाला है।

किसी भी बात पर यक़ीन करने को उतारू इन युवाओं को लगता है कि सरकारी नौकरियाँ भारी संख्या में उपलब्ध हैं, और अगर उनकी जाति को अन्य पिछड़े वर्ग में शामिल कर लिया जाए; और इस तरह उन्हें सरकारी नौकरी हासिल करने की अर्हता मिल जाए तो उन्हें बड़ी संख्या में सरकारी नौकरियाँ मिलने लगेंगी।

लेकिन, हक़ीक़त यह है कि सरकार के पास भी नौकरियाँ नहीं बची हैं! सच्चाई यह है कि देश के कुल रोज़गार में सार्वजनिक क्षेत्र के रोज़गार की हैसियत केवल चार प्रतिशत रह गयी है।[27]

---

[24] देखें, *एब्सोल्यूट डिक्लाइन इन जॉब्स, सेज सीडीएस स्टडी, ड्रॉप शार्पेस्ट इन थ्री ईयर्स,* http://www.outlookindia.com.

[25] महेश व्यास (2017).

[26] देखें, http://www.livemint.com. तथा एस. रुक्मणि (2014). http://www.thehindu.com.

[27] 2009-10 के दौरान 46 करोड़ के कुल श्रमबल में केवल 1.8 करोड़ लोग ही सार्वजनिक रोज़गार के क्षेत्र में काम कर रहे थे।

थोड़ा और आगे बढ़े, और देखें कि देश में एक तरफ़ नव-उदारतावादी आर्थिक सुधारों के कार्यान्वयन तथा दूसरी ओर सरकार द्वारा शिक्षा तथा स्वास्थ्य जैसी कल्याणकारी सेवाओं को निजी क्षेत्र के हाथों में सौंपे जाने के बाद रोज़गार के समस्त क्षेत्रों में सार्वजनिक रोज़गार की दर लगातार घटती जा रही है। हालात यहाँ तक पहुँच चुके हैं कि सरकार कर्मचारियों की सेवानिवृत्ति के बाद ख़ाली हुए पदों पर नयी नियुक्ति करने से बच रही है (सरकार ने अभी कुछ दिन पहले राज्यसभा में ख़ुद ही यह स्वीकार किया था कि केंद्र और राज्य सरकारों के यहाँ 24 लाख पद रिक्त पड़े हैं।[28] सरकार 'स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति' जैसी योजनाओं के ज़रिये ख़ुद ही रोज़गार के अवसर घटाने पर तुली है। इसी तरह बची-खुची नौकरियाँ ठेकेदारी के हवाले की जा रही हैं। सार्वजनिक क्षेत्र की नौकरियों में आयी भारी गिरावट इसी का परिणाम है। आज़ादी के बाद के दशकों में यह बात स्पष्ट देखी जा सकती है कि देश के सार्वजनिक क्षेत्र में 1961 से लेकर 1991 तक रोज़गार की दर लगातार बढ़ती रही। इस तरह, 1961 में जहाँ सार्वजनिक क्षेत्र में 70.5 लाख नौकरियों का सृजन किया गया, वहीं 1991 में यह आँकड़ा 190.6 लाख पर पहुँच गया। लेकिन वैश्वीकरण की शुरुआत होते ही यह आँकड़े उलटे पाँव चलने लगे। 1991-2012 की अवधि में सार्वजनिक क्षेत्र के रोज़गार (सरकार के हरेक स्तर पर— केंद्र, राज्य, स्थानीय निकायों से लेकर अर्ध-सरकारी उपक्रमों जैसे, सार्वजनिक क्षेत्र के संस्थानों, बिजली बोर्डों, सड़क परिवहन निगम आदि) में नौकरियों की संख्या 190 लाख से घटकर 176 लाख पर पहुँच चुकी है (देखें, तालिका-6)। यह गिरावट आर्थिक गतिविधि के प्रत्येक क्षेत्र— मैन्युफ़ैक्चरिंग, विनिर्माण, यातायात से लेकर समुदाय, सामाजिक तथा निजी सेवाओं में देखी जा सकती है।[29]

तालिका-6

कुल सरकारी रोज़गार (केंद्र + राज्य + स्थानीय निकाय + अर्ध-सरकारी निकाय) (लाखों में)

वर्ष	कुल कारीगर
1981	154.8
1991	190.6
2012	176.1

अगर रोज़गार-सृजन की दर 1981-91 की अवधि के अनुरूप रही होती तो 2012 तक सार्वजनिक क्षेत्र में नौकरियों की संख्या 295 लाख तक पहुँच जाती। इसका अर्थ यह है कि इस दौरान नौकरियों में 1.04 करोड़ का इज़ाफ़ा हो जाता। इसके उलट हुआ यह है कि इस दौरान 14.5 लाख नौकरियाँ ख़त्म हो गयीं।

निष्कर्ष के तौर पर कहें तो अगर केंद्र/राज्य सरकार मराठा युवकों को सरकारी नौकरियों में आरक्षण देने का कोई रास्ता ढूँढ़ निकालने में सफल भी हो जाती है, तब भी इससे इन युवकों को बड़ी संख्या में नौकरियाँ नहीं मिलने वाली। सरकारी नौकरियों में आरक्षण की माँग करना दरअसल एक मृगमरीचिका का पीछा करना है। अगर महाराष्ट्र में आज मराठा जैसी ऊँची जाति के युवकों को बेरोज़गारी के इस भयंकर संकट से जूझना पड़ रहा है तो इसका कारण दलितों और अन्य पिछड़े वर्गों को मिल रहा आरक्षण नहीं है, बल्कि इसकी मूल वजह यह है कि देश में नौकरियाँ सिरे से ग़ायब हो गयी हैं। और नौकरियों में आये इस ठहराव का कारण अंततः देश की नव-उदारवादी आर्थिक नीतियों में छिपा है। अगर महाराष्ट्र के नौजवान बेरोज़गारी के इस संकट का वाक़ई कोई हल ढूँढ़ना चाहते हैं तो उन्हें इस संकट के वास्तविक कारणों के बारे में गहराई से सोचना होगा; उन्हें देश में लागू किये जा रहे आर्थिक मॉडल पर सवाल खड़े करने होंगे और ऐसी मानीख़ेज़ माँगों पर विचार करना होगा जिनसे बड़ी संख्या में रोज़गार का रास्ता निकल सके।

---

[28] देखें, 5 अगस्त, 2018, http://timesofindia.indiatimes.com.

[29] आर.नागराज (2014). http://www.igidr.ac.in.; टी.एस.पापोला तथा पार्थ प्रतिम साहू : वही.

देश में व्यापक स्तर पर रोज़गार पैदा करने के लिए निम्नलिखित माँगों पर विचार किया जाना चाहिए।

रोज़गार सृजन हेतु कुछ प्रस्ताव

(1) कृषि-व्यय में वृद्धि की जाए : जैसा कि हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं, भारत में खेती का संकट नव-उदारवादी आर्थिक सुधारों का परिणाम है। इस संकट के चलते एक तरफ़ हज़ारों किसान हर वर्ष आत्महत्या कर रहे हैं तो दूसरी ओर खेती में रोज़गार की दर लगभग शून्य पर पहुँच चुकी है। कृषि-क्षेत्र को इस संकट से उबारने और इसे जीविका का स्थायी स्रोत बनाने के लिए यह ज़रूरी है कि सरकार खेती के क्षेत्र में निम्नलिखित उपायों पर विचार करे :

* उर्वरकों, बिजली तथा पानी आदि पर सब्सिडी बढ़ाकर खेती की लागत में कमी लाना;
* खेतिहर उत्पादन हेतु समर्थन मूल्य की व्यवस्था करना;
* कृषि-क्षेत्र में सार्वजनिक निवेश बढ़ाना— कृषि-क्षेत्र की वृद्धि के लिए यह बेहद ज़रूरी हो गया है; तथा
* स्थानीय महाजनों से लिए गये ऋण सहित खेती से संबंधित सभी ऋण माफ़ किये जाएँ। इसी के साथ किसानों को घटी दरों पर संस्थागत ऋण उपलब्ध कराया जाए।

दूसरे शब्दों में, सरकार को कृषि से संबंधित समस्त क्षेत्रों में सार्वजनिक निवेश बढ़ाने पर ज़ोर देना चाहिए। यह निवेश कम से कम दो गुणा या तीन गुणा होना चाहिए। निवेश के लिए यह धन कहाँ से आएगा ? इस बिंदु पर हमने निबंध के अगले हिस्से में विचार किया है।

सार्वजनिक निवेश की व्यवस्था दुरुस्त करने से भारत के कृषि-क्षेत्र तथा कृषि संबंधी रोज़गार में आयी गिरावट को कम से कम वैश्वीकरण से पूर्व की अवस्था तक लाया जा सकेगा। ग़ौर करें कि अगर आर्थिक सुधारों के बाद खेती में रोज़गार सृजन की दर 1983-1993-94 की अवधि (जब चक्रवृद्धि वार्षिक वृद्धि दर 1.51 प्रतिशत थी, देखें, सारणी 3) के अनुरूप रही होती तो 2009-10 तक खेती में कुल रोज़गार का आँकड़ा 24.5 करोड़ के बजाय 30.8 करोड़ पर पहुँच गया होता। दूसरे शब्दों में कहें तो 1994 से लेकर 2010 की अवधि के दौरान कृषि-क्षेत्र में रोज़गार के 24 लाख अवसरों के बजाय 6.55 करोड़ अवसर यानी 6.3 करोड़ ज़्यादा अवसर पैदा हो जाते !

(2) **लघु स्तरीय क्षेत्र को प्रोत्साहन दिया जाए :** जैसा कि ऊपर चर्चा की गयी है, देश में रोज़गार का सबसे बड़ा स्रोत अनौपचारिक क्षेत्र है। इसमें वे छोटी-छोटी इकाइयाँ भी शामिल हैं जिन्हें सरकार माइक्रो, लघु और मझौले उपक्रमों का नाम देती है। मोदी सरकार ने एक योजना की घोषणा की है जिसे मुद्रा योजना कहा जाता है। इस योजना के अंतर्गत सरकार माइक्रो उद्यम शुरू करने के इच्छुक लोगों को पचास हज़ार से लेकर दस लाख तक का ऋण प्रदान करती है। यह योजना 2015 में शुरू की गयी थी। आधिकारिक आँकड़ों के अनुसार, इस योजना के तहत पिछले तीन वर्षों के दौरान—25 मई, 2018 तक 13 करोड़ लोगों को कुल छह लाख करोड़ रुपयों का आबंटन किया जा चुका है (इसमें 5.81 लाख करोड़ रुपये बाँटे भी जा चुके हैं)। एक सामान्य हिसाब लगाएँ तो इस योजना के अंतर्गत औसतन 46,530 रुपये का ऋण स्वीकृत किया गया है जबकि आबंटित ऋण की राशि 45,034 रुपये बैठती है।[30] हालाँकि मोदी सरकार बढ़-चढ़ कर दावा कर रही है कि इस योजना से रोज़गार के कई करोड़ अवसर पैदा करने में मदद मिली है, लेकिन ज़ाहिर है कि यह भी सरकार का एक बड़ा झूठ है क्योंकि इस योजना के अंतर्गत जितना ऋण आबंटित किया जा रहा है वह किसी भी प्रकार के लघु स्तरीय व्यवसाय को शुरू करने के लिए बेहद नाकाफ़ी है।

---

[30] देखें, 29 मई, 2018, ; http://www.indiatoday.in.

माइक्रो उद्यम शुरू करने के इच्छुक लोगों के लिए सरकार को वित्तीय प्रोत्साहन एक व्यापक और ठोस योजना पर काम करना चाहिए। इसमें न केवल ऋण की मात्रा में बढ़ोतरी की जानी चाहिए, बल्कि उद्यमियों को यह ऋण चुकाने के लिए ब्याज पर सब्सिडी भी प्रदान करनी चाहिए। इसके अलावा सरकार को यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि इस क्षेत्र के उत्पादों को बहुराष्ट्रीय निगमों के मंदी के मार से जूझ रहे स्वचालित संयंत्रों द्वारा उत्पादित सब्सिडीयुक्त आयात से प्रतिस्पर्धा न करनी पड़े। इसके लिए जिस राशि की आवश्यकता पड़ेगी, वह पहले से मौजूद है। इस बिंदु पर हम लेख के अगले हिस्से में चर्चा करेंगे।

(3) **निजी क्षेत्र के बड़े उद्योगों में ज़्यादा नौकरियाँ पैदा की जाएँ :** जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, भारत के फ़ैक्टरी क्षेत्र में रोज़गार सृजन की दर चींटी की रफ़्तार से चल रही है। इसके परिणाम के तौर पर 2009–10 में देश के कुल कार्यबल का केवल 2.5 प्रतिशत ही फ़ैक्ट्रियों में काम कर रहा था। उल्लेखनीय है कि इस आँकड़े में छोटी और बड़ी, दोनों प्रकार की फ़ैक्ट्रियों में काम करने वाले लोग शामिल थे! यह बात सरकार के नीति–प्रतिष्ठान— निटि आयोग ने अपनी एक रिपोर्ट में स्वीकार की है कि भारत के मैन्युफ़ैक्चिरिंग क्षेत्र में जो भी रोज़गार पैदा हो रहे हैं, उनका श्रेय इन्हीं लघु–स्तरीय उद्योगों को जाता है। इसे आँकड़ों की भाषा में रख कर देखें तो इस प्रकार की छोटी–छोटी फ़र्मों में जहाँ कामगारों की संख्या बीस से भी कम थी और देश के विनिर्मित उत्पादों में जिसका योगदान केवल 12 प्रतिशत बैठता था, वहाँ 2011–12 के दौरान देश के मैन्युफ़ैक्चरिंग कार्यबल का 72 प्रतिशत भाग काम कर रहा था। इसी प्रकार, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (एनएसएसओ) द्वारा 2006–07 के दौरान सेवा क्षेत्र से संबंधित एक अध्ययन से ज़ाहिर होता है कि इस क्षेत्र के 38 प्रतिशत उत्पादन पर 650 बड़ी सेवा–फ़र्मों का क़ब्ज़ा था, जबकि सेवा–कर्मियों की संख्या के हिसाब से उनमें केवल दो प्रतिशत लोग ही काम कर रहे थे।[31]

मौजूदा सच यह है कि मशीनों के अत्यधिक इस्तेमाल के कारण विशालकाय फ़र्मों में कम लोगों को नौकरी मिल पाती है। भारत सरकार द्वारा नौकरी की शर्तों में ढील दिये जाने के बाद अब उद्योग जगत स्थायी कर्मचारियों की छँटनी करके उनकी जगह अस्थायी कर्मियों की नियुक्ति करने लगा है। ऐसे कर्मचारियों को न केवल कम वेतन दिया जाता है, बल्कि उनके पास किसी प्रकार की सामाजिक सुरक्षा भी नहीं होती। इसलिए उत्पादन में वृद्धि होने से कर्मचारियों को कोई लाभ नहीं हुआ है। *एनुएल सर्वे ऑफ़ इण्डस्ट्रीज़* के आँकड़ों से पता चलता है कि तीन दशकों के दौरान (2013 तक) जहाँ कर्मचारियों के वास्तविक उत्पादन में सात प्रतिशत की औसत वार्षिक वृद्धि दर्ज की गयी, वहीं उनकी वास्तविक मज़दूरी लगभग उसी जगह स्थिर रही है। 1983 से लेकर 2013 की अवधि के दौरान उसमें केवल एक प्रतिशत की औसत वार्षिक दर से इज़ाफ़ा हुआ है।[32]

इससे इन फ़र्मों के पूँजीवादी मालिकों को ज़बरदस्त मुनाफ़ा हुआ है। एक तरह से कहें तो उन्होंने उत्पादन में होने वाली वृद्धि के तमाम लाभ अपनी जेब में डाल लिए हैं। चार्ट 1 को ध्यान से देखें तो यह बात साफ़ तौर पर समझी जा सकती है कि :

* उद्योगों में निवल मूल्य की वृद्धि के तौर पर मज़दूरी की प्रतिशतता में गिरावट आयी है। 1982–83 में यह मज़दूरी निवल मूल्य की 30.9 प्रतिशत; 1990–91 में 25.6 प्रतिशत तथा 2012–13 में 12.9 प्रतिशत रही थी।

* दूसरी तरफ़ देखें तो आर्थिक सुधारों के बाद बढ़े हुए निवल मूल्य में मुनाफ़े की प्रतिशतता ने लम्बी

---

[31] सीवियर अण्डर–एम्प्लॉयमेंट मोर सीरियस दैन अनएम्प्लॉयमेंट : निटि आयोग, 28 मई, 2017, http://www.businesstoday.in.

[32] प्रभात सिंह (2017). 10 अक्तूबर, 2017, http://www.livemint.com.

छलाँग भरी है: निवल मूल्य में यह वृद्धि 1982–83 में 30.9 प्रतिशत; 1990–91 में 22.1 प्रतिशत तथा 2012–13 में 50.0 प्रतिशत रही थी। उद्योगों के आँकड़ों की यह एक औसत तस्वीर है। ज़ाहिर है कि बड़े उद्योगों में मुनाफ़े की दर इस औसत से कहीं ज़्यादा और मज़दूरी की दर कम रही होगी।

तथ्य-चित्र-1

उद्योगों में 1982-83—2012-13 की अवधि के दौरान

निबल मूल्य में मुनाफ़े और मज़दूरी का प्रतिशत[33]
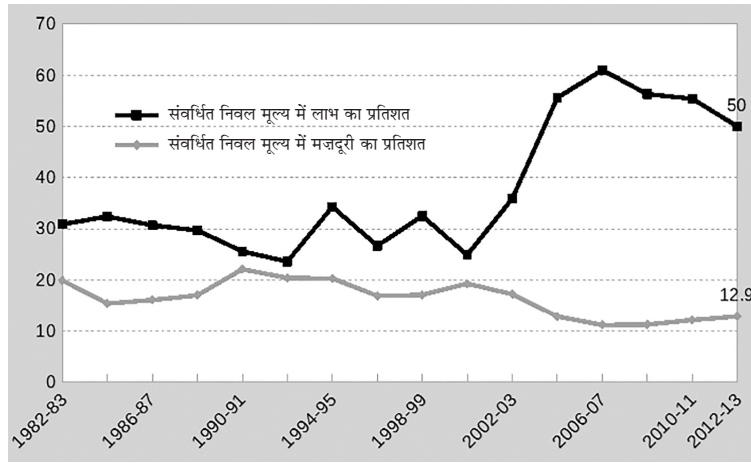
बड़े उद्योगों में मुनाफ़े की इस ऊँची दर को देखते हुए, हमें यह माँग उठानी चाहिए कि बड़े कारख़ानों में कर्मचारियों की संख्या बढ़ाई जाए और उनके काम के घंटों में कटौती करके इस अवधि को चार घंटे प्रतिदिन के (मज़दूरी घटाये बिना) हिसाब से तय किया जाए। इससे बड़े उद्योगों में कर्मचारियों की संख्या दोगुना बढ़ाई जा सकती है। रूढ़िवादी अर्थशास्त्री हमारे इस प्रस्ताव का यह कहकर मखौल उड़ा सकते हैं कि इससे तो बड़े उद्योग घाटे में चले जाएँगे और अंततः तालाबंदी का शिकार हो जाएँगे। लेकिन, जैसा कि चार्ट संख्या-1 के ब्योरों से देखा जा सकता है, 2012-13 के दौरान जहाँ निवल मूल्य की वृद्धि में मज़दूरी का भाग केवल 12.9 प्रतिशत बैठता था, वहीं मुनाफ़े का हिस्सा 50 प्रतिशत पर जा पहुँचा था। इसलिए, अगर बड़े उद्योगों में मज़दूरी की लागत दोगुना कर दी जाए तब भी उन्हें किसी तरह के घाटे का सामना नहीं करना होगा। सच तो यह है कि इस स्थिति में भी उनका मुनाफ़ा निवल मूल्य में होने वाली वृद्धि का 37 प्रतिशत बना रहेगा! इतना ही नहीं, रोज़गार बढ़ने से माँग में भी उछाल आएगा और इससे अपनी पूर्ण क्षमता (भारतीय उद्योग फ़िलहाल अपनी पूर्ण क्षमता का लगभग 72 प्रतिशत उपयोग कर पाते हैं[34]) से नीचे काम कर रहे भारतीय उद्योगों को अपने उत्पादन में वृद्धि तथा क्षमता के पूर्णतम उपयोग में सुधार करके ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने का अवसर मिलेगा।

भारत के संगठित मैन्युफ़ैक्चरिंग क्षेत्र में एक करोड़ साठ लाख लोग काम करते हैं। निटि आयोग के अनुसार इसमें लगभग 30 प्रतिशत या पचास लाख लोग बड़े उद्योगों में काम करते हैं।[35] लिहाज़ा इस क्षेत्र में रोज़गार की दर दोगुना करने पर पचास लाख नौकरियों का प्रत्यक्ष रूप से तथा इस आर्थिक प्रक्रिया के दूरगामी प्रभाव के फलस्वरूप रोज़गार के अन्य अवसरों का सृजन किया जा सकेगा।

---

[33] वही.

[34] देखें, 4 अक्तूबर, 2017, http://www.bloombergquint.com.

[35] प्रभात सिंह : वही.

(4) **सरकारी क्षेत्र में नयी नौकरियों का सृजन किया जाए** : देश में लाखों युवा अपनी-अपनी जातियों के लिए आरक्षण की माँग कर रहे हैं जबकि सच्चाई यह है कि सरकारी नौकरियाँ ख़त्म हो चुकी हैं! यानी स्थिति यह है कि युवा सार्वजनिक रोज़गार के जिस नख़लिस्तान की खोज में जुटे हैं, वह कहीं मौजूद ही नहीं है। इसके बजाय आज ज़रूरत यह है कि लोगबाग जाति और समुदाय की हदबंदी तोड़कर सरकारी नौकरियों की संख्या बढ़ाने की माँग उठाएँ। सरकारी नौकरियों में किस हद तक इज़ाफ़ा किया जा सकता है— इसका एक मोटा ख़ाका तैयार करने के लिए हम यह देख सकते हैं कि भारत, अमेरिका तथा अन्य विकसित देशों में एक लाख लोगों पर कितने लोगों को सरकारी नौकरी उपलब्ध हैं।

राजनीतिज्ञों और नौकरशाहों के मिथ्या प्रचार को दूर हटाकर देखें तो सच्चाई यह है कि भारत में सार्वजनिक रोज़गार की तस्वीर बहुत उजली नहीं है। विकसित देशों की तुलना में— जहाँ मुक्त बाज़ार अर्थव्यवस्था का राज है, हमारे यहाँ सार्वजनिक रोज़गार की दर बहुत नीची है (देखें, तालिका-7)। विकसित देशों में सार्वजनिक रोज़गार का क्षेत्र इसलिए गुलज़ार है क्योंकि वहाँ सरकार सामाजिक क्षेत्र पर अच्छी-ख़ासी राशि ख़र्च करती है। अधिकांश विकसित देश अपने नागरिकों को स्वास्थ्य की सुविधाएँ, स्कूली और विश्वविद्यालयी शिक्षा मुफ़्त अथवा सस्ती फ़ीस पर मुहैया कराते हैं; इन सुविधाओं में वृद्धावस्था पेंशन, मातृत्व संबंधी देखभाल, विकलांग सहायता और बच्चों की देखभाल के लिए पारिवारिक भत्ते आदि जैसी सुविधाएँ भी शामिल हैं। इससे ज़ाहिर होता है कि इन देशों में सामान्य जनता को इस प्रकार की सामाजिक सेवाएँ प्रदान करने के लिए बहुत से लोग काम पर रखे जाते हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार की उपलब्धता के हिसाब से विकसित देशों में अमेरिका की स्थिति काफ़ी निम्न मानी जाती है (एक लाख की आबादी पर)। अगर हम केवल इसी स्तर तक पहुँचने की कोशिश करें यानी अमेरिका में एक लाख की आबादी पर सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने वाले कर्मचारियों का ही आँकड़ा छूने की कोशिश करें तो हमें इस क्षेत्र में रोज़गार के कम से कम 8.89 करोड़ अवसर पैदा करने होंगे।[36] फ़िलहाल स्थिति यह है कि भारत में केवल एक करोड़ छिहत्तर लाख लोग ही सार्वजनिक क्षेत्र में काम करते हैं। इसका मतलब है कि अमेरिका के बराबर आने के लिए हमें 7.13 करोड़ अच्छे और साफ़-सुथरे रोज़गार पैदा करने होंगे!

तालिका-7

एक लाख की आबादी पर सार्वजनिक रोज़गार की तुलनात्मक स्थिति[37]

स्वीडन	15,070
फ़्रांस	8,760
अमेरिका	7,220
भारत	1,430

लिहाज़ा, इससे यह बात साफ़ हो जानी चाहिए कि लोगों को एक-दूसरे से जाति, धर्म और क्षेत्र आदि के आधार पर लड़ने के बजाय इस माँग के इर्द-गिर्द संगठित होना चाहिए कि सरकार सामाजिक क्षेत्र के व्यय में वृद्धि करे तथा सार्वजनिक क्षेत्र में नौकरियों की तादाद बढ़ाए। इससे कम से कम कई करोड़ नयी नौकरियों का सृजन होगा! सार्वजनिक क्षेत्र में नौकरियों की संख्या बढ़ने से अगर ज़्यादा नहीं तो कम से कम निजी क्षेत्र में भी इतनी नौकरियाँ तो ज़रूर पैदा हो जाएँगी क्योंकि सार्वजनिक क्षेत्र की अच्छी नौकरियों से निजी क्षेत्र में माँग का एक विशाल दरवाज़ा खुलेगा जिससे उत्पादन में उछाल आएगा। ग़ौरतलब है कि कीन्स ने यही बात दशकों पहले कही थी।

मसलन, अगर महाराष्ट्र सरकार ही सभी बच्चों को बारहवीं कक्षा तक अनिवार्य रूप से मुफ़्त और स्तरीय (केंद्रीय विद्यालय के स्तर की) शिक्षा प्रदान करने का फ़ैसला कर ले तो इसके लिए उसे

---

[36] पाद-टिप्पणी संख्या 32 के आधार पर हमारे द्वारा की गयी गणना.

[37] हमारे द्वारा की गयी गणना. विकसित देशों की जनसंख्या और रोज़गार के आँकड़े कई स्रोतों से लिए गये हैं. देखें, स्वीडन/फ़्रांस/यूएसए— इकॉनॉमिक इंडिकेटर्स, http://tradingeconomics.com; सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार के प्रतिशत के लिए देखें, नियाल मैकार्थी (2017). यहाँ ध्यान रहे कि जनसंख्या और रोज़गार के ये आँकड़े वर्ष 2017 से, जबकि सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार के आँकड़े वर्ष 2015 से संबंधित हैं. भारत से संबंधित आँकड़े वर्ष 2012 से लिए गये हैं. वर्ष 2012 में भारत के सार्वजनिक क्षेत्र में 17.6 करोड़ रोज़गार थे, जबकि उस वर्ष भारत की जनसंख्या एक अरब 23 करोड़ थी. यह गणना *पॉप्युलेशन ऑफ़ इण्डिया,* http://statisticstimes.com. के स्रोतों पर आधारित है.

हज़ारों की संख्या में स्कूल खोलने होंगे और अध्यापकों की बड़ी संख्या में भर्ती करनी होगी। सटीक अनुमान लगाएँ तो इसके लिए राज्य सरकार को कम से कम 19 लाख अध्यापकों की भर्ती करनी पड़ेगी![38]

और अगर अध्यापकों को इतने बड़े पैमाने पर नियुक्त किया जाएगा तो साथ ही क्लर्क, प्रयोगशाला सहायक तथा चपरासी जैसे सहायक स्टाफ़ की संख्या में भी इसी स्तर पर वृद्धि करनी होगी। ज़ाहिर है कि इससे भवन-निर्माण, फ़र्नीचर, स्कूल की पाठ्य-पुस्तकों की छपाई आदि की माँग में इज़ाफ़ा होगा और नतीजतन इन उद्योगों में रोज़गार की सम्भावना बढ़ेगी। स्कूलों में अध्यापकों तथा सहायक स्टाफ़ की भर्ती से उपभोक्ता सामानों की माँग में उछाल आएगा जिससे संबंधित उद्योगों में नये रोज़गार पैदा होंगे। ग़ौर करिये कि देश के सिर्फ़ एक राज्य में बच्चों को स्तरीय और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने का फ़ैसला कितने बड़े स्तर पर रोज़गार पैदा कर सकता है!

और यह केवल शिक्षा तक सीमित नहीं है, देश में कल्याणकारी सेवाएँ भी इसी दुर्गति का शिकार हैं। इसलिए, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अगर सरकार देश की समस्त जनता को स्तरीय बुनियादी सेवाएँ मुहैया कराने की ठान ले तो इस अकेले फ़ैसले से करोड़ों की संख्या में नौकरियाँ पैदा की जा सकती हैं।

लेकिन इसके लिए पैसा कहाँ से आएगा?

पाठकगण यह सोच ही रहे होंगे कि सुनने में तो यह बात एक़दम ठीक लगती है, लेकिन इसके लिए पैसा कहाँ से आएगा? आख़िरकार भारत एक ग़रीब देश है, और सरकार के पास इन योजनाओं पर अमल करने के लिए पर्याप्त संसाधन नहीं है।

लेकिन यह कहना कि भारत सरकार के पास पैसा नहीं है, सरकार और उसकी प्रोपेगेंडा मशीनरी द्वारा फैलाया गया एक सफ़ेद झूठ है। सच्चाई यह है कि यही सरकार अमीर लोगों को हर साल लाखों करोड़ रुपयों की सब्सिडी बाँट देती है। इस मामले में दो उदाहरण ही काफ़ी होंगे—

* आर्थिक सुधारों की शुरुआत के बाद केंद्र में हर सरकार देश के कॉरपोरेट घरानों और अमीर लोगों को हर साल करों में रियायत देती आ रही है। 2005-06 से लेकर 2017-18 की अवधि में सरकार 58.6 लाख करोड़ रुपये का कर्ज़ माफ़ कर चुकी है।[39]

* भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक 2004-18 के दौरान बड़े कॉरपोरेट घरानों का 4.6 लाख करोड़ का ऋण बट्टे खाते में डाल चुके हैं। इनमें 3.1 लाख करोड़ का ऋण मोदी सरकार के चार साला कार्यकाल के दौरान माफ़ किया गया है।[40] इसके अलावा, इस अवधि के दौरान बैंकों ने ताक़तवर लोगों को लाभ पहुँचाने के लिए ऋण की शर्तों और अदायगी के नियमों में भी फेरबदल की है, जिसके बाद माफ़ किये गये ऋण की राशि लगभग 10 लाख करोड़ हो जाती है।[41]

रियायतों की यह दरियादिली सिर्फ़ यहीं तक सीमित नहीं है। इस फ़ेहरिस्त में नाममात्र की रॉयल्टी के बदले देश की खनिज सम्पदा और संसाधनों का नियंत्रण निजी उपक्रमों की झोली में डालने और कौड़ियों के दाम पर सार्वजनिक क्षेत्र के लाभकारी उपक्रमों का स्वामित्व देशी-विदेशी निगमों

---

[38] पूर्वोक्त : 66-68.

[39] पी. साईंनाथ (2014). 13 जुलाई, 2014, http://www.indiaresists.com.; नीरज जैन : पूर्वोक्त.

[40] हमने यह आकलन निम्नलिखित आँकड़ों के आधार पर किया है : सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों ने 2004-15 के दौरान 2.11 लाख करोड़ की राशि के ऋण माफ़ किये थे. देखें, 'पीएसयू बैंक्स' राइट-ऑफ़ बैड लोंस एट रुपीज़ 1,14,000 करोड़ इन 2013-15 : आरबीआई', 7 अगस्त, 2017, http://economictimes.indiatimes.com.; 'पब्लिक सेक्टर बैंक्स राइट-ऑफ़ बैड लोंस वर्थ रुपीज़ 1.2 लाख करोड़ इन 2017-18', 15 जून, 2018, http://www.businesstoday.in.

[41] दिनेश उन्नीकृष्णन (2014).; बुनियादी क्षेत्र में ऋण की इस परिघटना को समझने के लिए देखें, 25 अप्रैल, 2014, http://www.livemint.com.; 5 अप्रैल, 2013, http://www.livemint.com.

को हस्तांतरित करने जैसे संदेहास्पद निर्णय भी शामिल हैं। निजी ख़ज़ानों के हवाले की गयी इस सार्वजनिक सम्पदा का मूल्य कई लाख करोड़ रुपये बैठता है।[42] अगर सरकार इस सार्वजनिक धनराशि को रियायत या हस्तांतरण के रूप में देश के परम सम्पन्न लोगों को देना बंद कर दे तो वह खेती और सामाजिक क्षेत्र पर बड़ी राशि ख़र्च कर सकती है।[43] इससे न केवल खेती के क्षेत्र में बड़े पैमाने पर रोज़गार पैदा किया जा सकता है, बल्कि सरकारी क्षेत्र में भी करोड़ों नौकरियाँ पैदा की जा सकती हैं।

निष्कर्ष

तो कुल मिला कर बात यह है कि नौकरियों का यह टोटा इसलिए नहीं है कि आरक्षण के कारण सारी नौकरियाँ दलितों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों की झोली में चली गयीं हैं। इसके उलट, सच्चाई यह है कि औपचारिक क्षेत्र में सम्मानजनक नौकरियाँ बची ही नहीं हैं। और इसका मूल कारण वैश्वीकरण के रास्ते आयी नव-उदारवादी आर्थिक नीतियों में छिपा है। लोगबाग अगर इस सच्चाई को भली-भाँति जान लें तो उन्हें यह समझते देर नहीं लगेगी कि उनकी लड़ाई 'दूसरों' के ख़िलाफ़ लामबंद होने की नहीं, बल्कि उनके साथ साझा मोर्चा बनाने की है। अगर वे ऐसा कर सके और देश की अर्थव्यवस्था पर क़ाबिज़ इस नीति-प्रतिष्ठान को चुनौती दे सके तो किसी के लिए भी रोज़गार की कमी नहीं रहेगी।

संदर्भ

1983 और 1993-94 के आँकड़ों के लिए देखें, *इकॉनॉमिक सर्वे, 2001-02: सोशल सेक्टर—लेबर ऐंड एम्प्लॉयमेंट,* http://indiabudget.nic.in. ; 1999-00, 2004-05 तथा 2009-10 के आँकड़ों के लिए यह देखें, *ट्वेल्फ़्थ फ़ाइव ईयर प्लॉन : वॉल्यूम 3 — सोशल सेक्टर,* http://ww.planningcommission.nic.in.

'अ बजट एमिड एग्रेरियन क्राइसिस पार्ट 111', *रिसर्च यूनिट फ़ॉर पॉलिटिकल इकॉनॉमी,* http://rupeindia.wordpress.com.

अक्षत कौशल और मयंक मिश्र (2015), 'व्हाय डॉमिनेंट कास्ट्स वांट अदर बैकवर्ड क्लासेज़ स्टेटस', 29 अक्तूबर, 2015, https://www.business-standard.com.

आर. नागराज (2014), 'पब्लिक सेक्टर एम्प्लॉयमेंट: व्हाट हैज़ चेंज्ड?', इंदिरा गाँधी इंस्टीट्यूट ऑफ़ डेवलपमेंट रिसर्च, http://www.igidr.ac.in.

इकॉनॉमिक सर्वे, 2015-16: वॉल्यूम 1, http://indiabudget.nic.in.

इण्डियाज़ मैन्युफ़ैक्चरिंग कपैसिटी वीकंड फ़र्दर : आरबीआइ सर्वे, 4 अक्तूबर, 2017, http://www.bloomb ergq ui-nt.com.

'इण्डिया फेसिज़ रुपीज़ थ्री लाख करोड़ फ़ार्म लोन वेवर्स— 16 टाइम्स 2017 रूरल रोड्स बजट', http://www.business-standard.com. 17 जून, 2017.; http://indiabudget.nic.in.

'इंफ्रास्ट्रक्चर लोंस इमर्ज एज़ बैंक्स : बिगेस्ट स्ट्रेस प्वाइंट', 25 अप्रैल, 2014, http://www.livemint.com.; 'रिस्ट्रक्चर्ड *इज़ द गवर्नमेंट रिअली पुअर?* (2018), लोकायत पब्लिकेशन, पुणे, http://lokayat.org.in.

'एब्सोल्यूट डिक्लाइन इन जॉब्स, सेज सीडीएस स्टडी, ड्रॉप शार्पेस्ट इन थ्री ईयर्स', http://www.outlookindia.com.

ऐनुएल सर्वे ऑफ़ इंडस्ट्रीज 2010-2011 (फ़ैक्ट्री सेक्टर), mail.mospi.gov.in/index.php.

एस. रुक्मणि (2014), 'इण्डियाज़ स्टैगरिंग वैल्थ गैप इन फ़ाइव चार्ट्स', 8 दिसम्बर, 2014. http://www.thehindu.com.

---

[42] अमीरों को दी जाने वाली ऐसी रियायतों के अन्य उदाहरण यहाँ देखें, *इज़ द गवर्नमेंट रिअली पुअर?*

[43] हमने इस तथ्य का आकलन एक अन्य लेख में किया है कि अमीर लोगों को दी जाने वाली सब्सिडी में कटौती करके सरकार सामाजिक क्षेत्रों पर कितना व्यय कर सकती है. देखें, नीरज जैन : पूर्वोक्त.

के. मुथुकमार तथा आर. सीतारमण (2017), 'इन सर्च ऑफ़ अ जॉब', 10 अप्रैल.https://www.thehindubusinessline.com.

ट्वेल्फ़्थ .फ़ाइव ईयर प्लॉन: वॉल्यूम 3—सोशल सेक्टर्स.

टी.एस. पापोला तथा पार्थ प्रतिम साहू(2012), *ग्रोथ ऐंड स्ट्रक्चर ऑफ़ एम्प्लॉयमेंट इन इण्डिया,* मार्च 2012, http://isidev.nic.in. ; 1972-73 से 1983 की अवधि में मिश्रित वार्षिक वृद्धि दर (सीएजीआर) के लिए देखें, महेंद्र देव (2013); तथा 1983 से 1993-94 के दरमियान रोज़गार के आँकड़ों के लिए देखें, *इकॉनॉमिक सर्वे, 2001-02: सोशल सेक्टर्स— लेबर ऐंड एम्प्लॉयमेंट,* http://indiabudget.nic.in.; 1999-2000, 2004-05 तथा 2009-10 के रोज़गार संबंधी आँकड़े *ट्वेल्फ़्थ .फ़ाइव ईयर प्लॉन: वॉल्यूम 3—सोशल सेक्टर्स,* सीएजीआर की गणना हमने स्वयं की है.

डेविड हार्वी (2005), *अ ब्रीफ़ हिस्ट्री ऑफ़ नियो-लिबरलिज़म,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

'द एम्प्लॉयमेंट क्राइसिस: रीजंस ऐंड सॉल्युशंस', लोकायत पब्लिकेशंस, http://lokayat.org.in.

'दि रिचेस्ट इण्डियंस नव ऑन 58.4% ऑफ़ वैल्थ', 24 नवम्बर, 2017. http://www.livemint.com.

दिनेश उन्नीकृष्णन (2014), 'फ़ॉर स्टेट-रन बैंक्स, डिलेड इकॉनॉमिक रिकवरी वुड मीन मोर पेन फ़्रॉम रिस्ट्रक्चर्ड लोंस', 26 दिसम्बर, 2014, http://www.firstpost.com.

नियाल मैकार्थी (2017), 'स्कैंडिनेविया लीड्स द वर्ल्ड इन पब्लिक सेक्टर एम्प्लॉयमेंट', 21 जुलाई, 2017, http://www.forbes.com.

नीरज जैन (2017), 'बजट 2017-18: इज़ इट इंडीड अ प्रो-फ़ार्मर बजट?', *जनता,* 12 फ़रवरी, 2017, http://jantaweekly.org.in.

--------(2018), 'बजट 2018-19: व्हाट इज़ इन इट फ़ॉर द पीपुल?', *जनता,* 15 अप्रैल, 2018. http://jantaweekly.org.in.; नीरज जैन (2016), *स्पेक्टर ऑफ़ फ़ासिज़म,* लोकायत पब्लिकेशन, पुणे. http://jantaweekly.org.in.

'पब्लिक सेक्टर बैंक्स राइट-ऑफ़ बैड लोंस वर्थ रुपीज़ 1.2 लाख करोड़ इन 2017-18', 15 जून, 2018, http://www.businesstoday.in.

प्रभात सिंह (2017), 'हायर प्रोडक्टिविटी ईक्वल्स हायर वेजिज़? नॉट फ़ॉर इण्डियन वर्कर', 10 अक्तूबर, 2017, http://www.livemint.com.

'पीएसयू बैंक्स' राइट-ऑफ़ बैड लोन्स एट रुपीज़ 1,14,000 करोर इन 2013-15: आरबीआई', 7 अगस्त, 2017, http://economictimes.indiatimes.com.

पी. साईंनाथ (2015), 'द स्लाटर ऑफ़ सुसाइड डेटा', 5 अगस्त, http://psainath.org.

'पी. साईंनाथ ऑन कॉरपोरेट बेलआउट # रुपीज़ 36.5 ट्रिलियन # बजट 2014', 13 जुलाई, 2014, http://www.indiaresists.com.

पॉप्युलेशन ऑफ़ इण्डिया, http://statisticstimes.com.

'फ़ार्मर्स इनडेटिडनैस: इन टू द एबिस', 30 जनवरी, 2015, http://www.downtoearth.org.in.

महेश व्यास (2017), '1.5 मिलियन जॉब्स लॉस्ट इन फ़ॉर मंथ्स ऑफ़ 2017', 11 जुलाई, 2017. http://www.cmie.com.

मीना मेनन (2012), 'नेशन इन अ स्टेट : दैट मराठा डिमांड, वंस अगेन', 12 जून, 2012, https://www.thehindu.com.

'मुद्रा योजना इज़ अ मिशन ऑर मैस? 5-प्वाइंट फ़ैक्ट चैकर', 29 मई, 2018, http://www.indiatoday.in.

योजना आयोग की सारणियों से संगृहीत आँकड़ें. 23 दिसम्बर, 2014. 'ग्रॉस डॉमेस्टिक प्रोडक्ट फ़्रॉम एग्रीकल्चर ऐंड अलाइड सेक्टर्स ऐंड % शेयर टू जीडीपी 1950-51 एट कोंसटेंट 2004-05 प्राइसिज़', डेटा टेबल्स, प्लानिंग कमीशन, 23 दिसम्बर, 2014.; http://ww.planningcommission.nic.in.

राघवेंद्र झा (2007), *इनवेस्टमेंट ऐंड सब्सिडीज़ इन इण्डियन एग्रीकल्चर,* ऑस्ट्रेलियन नैशनल युनिवर्सिटी, कैनबरा.; http://devpolicy.crawford.anu.edu.au.

'रिजर्वेशन ऐंड द कांस्टीट्यूशन ऑफ़ इण्डिया', *शोधगंगा, भाग 5, अध्याय 2.;* http://shodhganga. inflibnet.ac.in.

लोकेश मालती प्रकाश (2012), 'एजुकेशन इन द नियो-लिबरल लिम्बो', 2 नवम्बर, 2012, http://khawabesahar.wordpress.com.

लोंस क्रॉस रुपीज़ 2.27 ट्रिलियन, पेस स्लोव्ज़', 5 अप्रैल, 2013, http://www.livemint.com.

'स्वीडन/फ्रांस/यूएसए—इकॉनॉमिक इण्डिकेटर्स', http://tradingeconomics.com.

स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट इन इण्डिया, वर्ल्ड बैंक, 2012, https://Inweb90.worldbank.org.; मोंटेक सिंह अहलुवालिया (1994), 'स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट ऐंड रिफ़ॉर्म्स इन डेवलपिंग कंट्रीज़', अप्रैल, 1994, www.planningcommission.nic.in.; अश्विनी देशपाण्डे और प्रबरजित सरकार (1995), 'स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट इन इण्डिया: अ क्रिटिकल एसेसमेंट', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* 9 दिसम्बर, 1995, http://www.epw.in.

'सीवियर अण्डर-एम्प्लॉयमेंट मोर सीरियस दैन अनएम्प्लॉयमेंट: निटि आयोग', 28 मई, 2017, http://www.businesstoday.in.

'सेंट्रल ऐंड स्टेट गवर्नमेंट्स सिट ओवर 24 लाख वैकेंसीज़ एमिड डिबेट ओवर जॉब ड्राउट', 5 अगस्त, 2018. http://timesofindia.indiatimes.com.

सुहास पल्शीकर (2018), 'द न्यू रिजर्वेशन', 1 अगस्त, https://indianexpress.com.